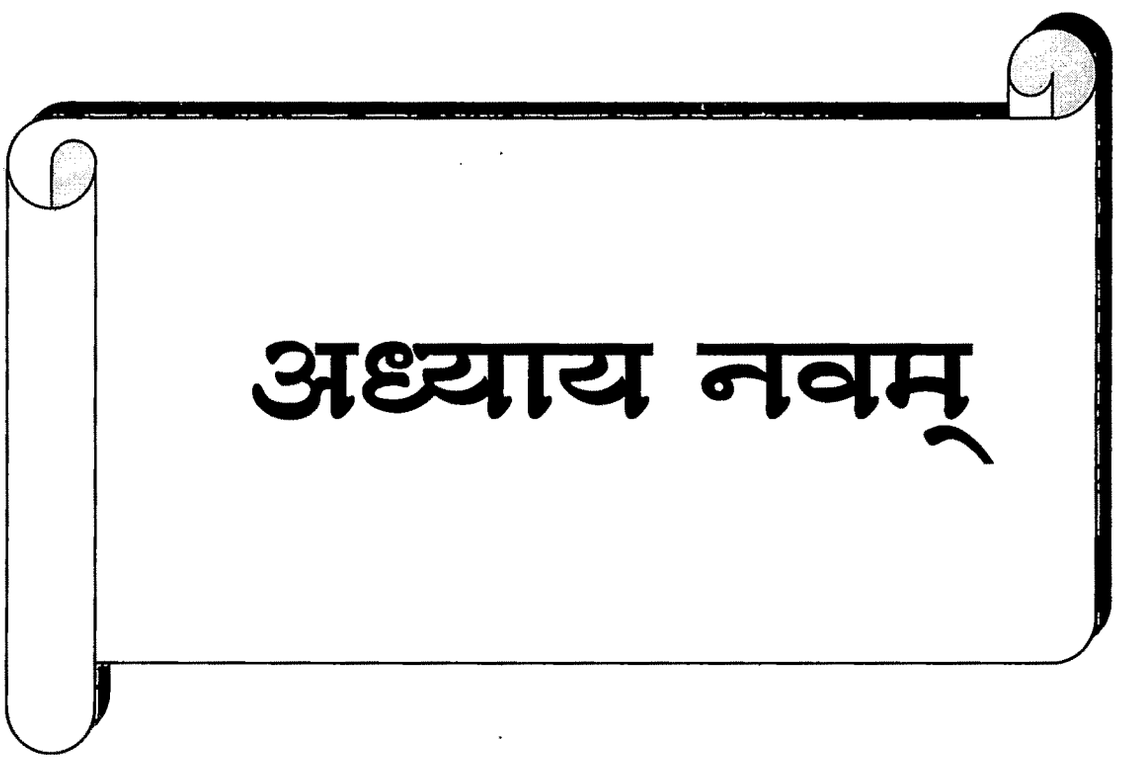

अध्याय नवम्

नवम् अध्याय

शिवपुराण में वर्णित कला और ललित कला

शिल्प कला– जब मनुष्य अपनी भावनाओं को जनरुचि के अनुरूप बनाने के लिये उसमें उपयोगिता का सृजन करता है तो उसे कला की संज्ञा दी जाती है।[1] इसमें मनुष्य की भावना चाहे अर्थविकसित स्थिति में ही हो, वहां प्रेरणा के गीत शिथिल नहीं रहते।[2] इसका फल मूर्त अथवा अमूर्त दोनों के रूपों में व्यक्त होता है। इसमें भी जिस कला में मूर्त अंग का जितना अभाव होता है, वह कलाउतनी ही उच्च कोटिकी मानी जाती है।[3] भारतीय कला में उपासना की प्रवृत्ति का सर्वत्र बोध होता है।[4] इसी परिवेश में हम शिवमहापुराण में वर्णित देश, धर्म और कला। इसी परिवेश में हम शिवमहापुराण में वर्णित कलाओं का अध्ययन करेंगे।

शिवमहापुराण एक धार्मिक पुराण है, साथ ही साथ यह शिव प्रशस्ति तथा युद्ध–गाथा भी है। इसमें कला को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है, फिर भी प्रसंगवश जो कुछ वर्णित है, वह उस काल के भारतवर्ष का सच्चा चित्र प्रस्तुत करने में सक्षम है। शिव का लिंग, शिव का मन्दिर, यज्ञवेदी, यज्ञशाल, सभा मंडपों आदि के सन्दर्भ में भारतीय वास्तुकला, स्थापत्यकला, चित्रकला आदि की स्मृत झांकी मिलती है। शिव के डमरू, शंख, सींग आदि में तत्कालीन बाद्य–यन्त्रों के मृदु संगीत सुनने को मिलते हैं। उनके ताण्डव–नृत्य

---

[1] कला का विवेचन, पृ0 13।
[2] फण्डामेण्टल आफ इण्डियन आर्ट, पृ0 3
[3] वही, पृ0 2
[4] वी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर आफ इण्डिया, पृ0 16

में प्राचीन भारत का नृत्य मुखरित हो उठता है। तत्कालीन कला के अध्ययन के लिये हमें शिवपुराण के इन्हीं स्थलों का सहारा लेना होगा।

नगर– शिवमहापुराण में नगर–संरचना का जो विवरण मिलता है, वह उस काल के नागरिकों के सभ्यता, कला आदि का उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। तत्कालीन नगर–नियोजन आधुनिक युग के नगर नियोजन से कदाचित् किसी अर्थ में कम नहीं था, इसकी पुष्टि राक्षसों की नगरी त्रिपुरी के वर्णन से मिलता है – त्रिपुरी के नगर कल्पवृक्षों से घिरे थे, घर में मणियों की जाली बनी हुई थीं, संभवतः यह वातायन होगा। घर के चारों तरफ दरवाजे थे। महलों के फाटक कैलास शिखर के समान ऊँचे थे। प्रत्येक घर में शिवालय तथा अग्निहोत्र प्रतिष्ठित था जो तत्कालीन धर्मप्रियता का प्रमाण है। नगर में बाग–बगीचे, कूप और बावड़ी बहुतायत से विद्यमान थे।[1] डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार उन दिनों के किसी भी नगर का वर्णन देखियें तो बाग–बगीचों और सरोवरों के प्रति जनता का अनुराग प्रकट होगा। कपिलवस्तु के बाहर पांच सौ बाग–बगीचे थे। वाल्मीकि की अयोध्या का तो कहना ही क्या।[2] स्कन्दपुराण में अवन्ति खण्ड में इस उद्यान–परम्परा का बड़ा ही मनोहर विवरण मिलता है। प्रत्येक घर में सुगन्धित द्रव्यों से भरे बावड़ी थे। डॉ0 द्विवेदी के अनुसार कामसूत्रों में जिन समुद्रगृहों का उल्लेख है, वे संभवतः भवन–दीर्घिका के पास या भीतर बने रहे थे।[3] विष्णु स्मृति (5, 117), रघुवंश आदि में इन गृह–बावड़ियों का उल्लेख मिलता है। नगर मदमस्त हाथियों एवं घोड़ों से सुशोभित था। उन नगरों में समय–समय के क्रीड़ा– स्थान बने हुए थे।

---

[1] रु0 सं0, यु0 खं0, 5/61–65
[2] प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ0 46
[3] वही, पृ0 44

वेदाध्ययन के लिये पाठशालायें बनी हुई थी।[1] ये त्रिपुर सोने, चांदी एवं लोहे के बने हुए थे।[2] संभवतः यह नगर के भवनों में की गयी सोने, चांदी और लोहे की नक्काशी की प्रचुरता की ओर संकेत करता है। नगर बहुत बड़े–बड़े होते थे। राजा शीलनिधि का नगर सौ योजन में फैला हुआ था (एक योजन बराबर चार कोस)।[3] यह परम अद्भुत तथा मनोहर था जिसे देखकर मुनिवर नारद तक मोहित हो गये। इसी प्रकार दानवराज शंखचूड़ के नगर का भी बहुत ही सुन्दर विवरण मिलता है। नगर में सुन्दर राजमार्ग बने होते थे। इसलिये पार्वती के विवाह के अवसर पर नगर–मागों को बुहार कर उस पर सुगन्धित द्रव्य का छिड़काव किया गया तथा उसे बहुमूल्य वस्तुओं से सजाया गया था।[4] जब पार्वती तप करके लौटती हैं, तब नगर में मार्ग के दोनों तरफ सुहागिन स्त्रियां हाथ में दीपक लेकर खड़ी थीं। राजमार्ग में मंगल घट रखे गये थे। उसमें चन्दन, अगर, कस्तूरी और फल की छहनियां डाली गयी थी। राजमार्ग पुरोहित, ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, मुनि, सधवा स्त्रियों, नर्तकी और गजेन्द्र आदि से सुशोभित हो रहा था।[5] निश्चय ही राजमार्ग चौड़ा होता होगा तभी इतने लोग एक साथ उस पर चलते होंगे। हिमवान के नगर का भी सुन्दर वर्णन मिलता है। यह नगर अलकापुरी और अमरावती से भी उत्तम था। अनेक प्रकार के सुन्दर स्फटिकों के बने इसके घर बहुत ही रमणीय दिखाई देते थे। मणियों से रचे इसके आंगन भी विचित्र थे। घर–घर में बने तोरणों की शोभा अद्भुत थी। शुक, हंस और विमानों से घर चित्रित थे। बहुत से जलाशयों और बावड़ी से वहां की शोभा बढ़ रही थी

---

[1] रु0 सं0, यु0 ख0, 1/66–68
[2] वही, 1/46, 47
[3] रा0 सा0, 2/5
[4] रु0 सं0, पा0 खं0, 38/2–3
[5] वही, 20/6–10

(रु0 सं0, पा0 खं0 32/43–50)। उपरोक्त विवरण स्पष्ट रूप में प्रमाणित करते हैं कि तत्कालीन नगर सुरुचिपूर्ण ढंग से बसाये गये होंगे जिसमें सुरक्षा से लेकर सौन्दर्य और विकास के सभी साधनों तक को ध्यान में रखा गया होगा। ब्रह्मपुराण में भी अनेक सुन्दर नगरों का प्रसंग मिलता है। पार्वती के स्वयंवर के लिये एक विशाल नगर को सजाने का प्रसंग आया है। इसे विभिन्न प्रकार के हीरे, जवाहरातों व हेममुक्ताओं से सजाया गया था। भूमि को स्वर्ण से पाट दियागया था तथा खम्भों को मुक्ताहार से सजाया गया था।[1] एक दूसरे प्रसंग में एक ऐसे नगर का वर्णन आया है जो विशाल भवनों एवं अट्टालिकाओं से पूर्ण था। भवनों में विशाल दरवाजे थे। घरों के दरवाजे सड़कों की तरफ खुलते थे। नगर चारों ओर से ऊँची दीवारों से घिरा होता था।[2] इसमें एक मुख्य द्वार होता था। उपरोक्त तथ्यों से यह प्रमाणित हो जाता है कि आर्य राजाओं तथा राक्षस राजाओं, दोनों के नगर नियोजन करीब–करीब एक ही समान थे।

भवन– शिवमहापुराण में सामान्य नागरिकों के घरों का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। शायद ग्रन्थकार को इसके उल्लेख का अवसर ही न मिल पाया हो। देवमंदिर तथा राजमहलों का उल्लेख मिलता है। राजाओं के महल सुरक्षा को ध्यान में रखकर विशेष रूप से बनाये जाते थे। महल के मध्य में पहुंचने के लिये अनेक ड्यौढ़ियों को पार करना पड़ता था। प्रत्येक ड्यौढ़ी में विशाल द्वार बने होते थे जिस पर द्वारपाल बैठा होता था, जिसकी आज्ञालेकर ही कोई भीतर प्रवेश कर सकता था। शिवलोक में प्रवेश करने के उपरान्त विष्णु को पन्द्रह ड्यौढ़ियों को पार करने के बाद महाद्वार पर नन्दी के दर्शन होते हैं,

---

[1] ब्रह्म पु0, 36/68
[2] रु0 सं0, यु0 खं0, 6/54

जो उन्हें शिव के पास ले जाते हैं।[1] इसी प्रकार राक्षस राजा शंखचूड़ के भवन का भी विवरण प्राप्त होता है। नगर के मध्य में कुवेर के भवन से भी अधिक शोभा–सम्पन्न शंखचूड़ का भवन था जिसमें बारह फाटक लगे हुए थे और सभी पर द्वारपाल बैठे हुए थे। ड्यौढ़ियों को पार करने के बाद विस्तृत प्रांगण था, जहां तीन करोड़ दानवों के बीच राक्षसराज शंखचूड़ रत्न–सिंहासन पर विराजमान था।[2] दानवों की संख्या को देखकर आंगन की विशालता का अनुमान लगाया जा सकता है। महल में ही सम्भावन बना होता था। शिव का सभा–भवन ऊँचा और चौकोर था। उसमें मणियों की माला के झरोखे बने हुए थे तथा विशेष प्रकार की चित्रकारी की हुई थी। उसमें स्यमन्तक मणि की सौ सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। इन्द्रनीलमणि के खम्भों में सोने की डोरी से गुथे हुए सुन्दर चन्दन के वृक्षों के पत्ते लटक रहे थे। वह सभा–भवन सहस्र योजन लम्बा था। मध्य में बहुसंख्यक सिंहासन पर शंकर–पार्वती आसीन थे।[3] हां एक विशेष प्रकार के भवन पर भी ध्यान जाता है। दारुका नामक राक्षसी पार्वती के वर के कारण अपने सम्पूर्ण नगर को लेकर उड़ गयी तथा उस नगर को समुद्र में बसायी।[4] इस कथन से अनुमान लगाया जासकता है कि संभवतः लोग जल के अन्दर घर बनाने की प्रक्रिया से परिचित रहे होंगे। भवन राजमार्ग के किनारे बना होता था, तभी तुलसी अपने पति का आगमन बनाकर झरोखे से राजमार्ग की ओर देखती है।[5]

---

[1] वही, 30/7
[2] रु0 सं0, यु0 खं0, 31/2–7
[3] वही, 30/11
[4] को0 रु0 सं0, 29/29–30
[5] रु0 सं0, यु0 खं0, 40/7

मन्दिर– शिवपुराण में शिवमन्दिर को नगर से बाहर स्थित वर्णित किया गया है। मन्दिर के दरवाजे पर गुणनिधि को बैठ हुआ चित्रित किया गया है।[1] इससे अनुमान लगता है कि मन्दिर भी भवन के समान चारों तरफ से बन्द होगा और उसका एक द्वार होता होगा। एक शिवमन्दिर का उल्लेख इस प्रकार किया गया है– उसमें सुवर्ण का दरवाजा का श्रेष्ठ किवाड़ एवं तोरण लगे हुए हैं, बहुमूल्य नीलम तथा निर्मल रत्नों की वेदियां सुशोभित हो रही है। तपे हुये सुवर्ण के बहुत से कलश रखे हुये हैं, स्फटिक की भूमि पर मणिजड़ित स्तम्भ दमक रहे हैं। उसके मध्य में रत्न–लिंग सुशोभित हो रहा है।[2] शिव मन्दिर–निर्माण के सम्बन्ध में ऐसा उपदेश दिया गया है कि पहले शिल्पशास्त्र के अनुसार देवताओं से भरा मन्दिर बनवाएं फिर दर्पण के समान स्वच्छ, रम्य, दृढ़ और रत्नों से भूषित प्रधान दिग्द्वार वाले मध्य गृह में वेदी सहित लिंग स्थापन के स्थान में नील, रक्त, वैदूर्य, श्याम, मर्कत, मुक्ता, प्रवाल, गोमेद तथा वज्र इन नौ रत्नों को डाल कर पूजा करें।[3] यहां स्पष्ट हो जाता है कि शिल्पशास्त्र का अत्यधिक विकास हो चुका था। शिव–मन्दिर में अन्य देवताओं का अत्यधिक विकास हो चुका था। शिव–मन्दिर में अन्य देवताओं का अत्यधिक विकास हो चुका था। शिव–मन्दिर में अन्य देवताओं का भी प्रतिमा रहती थी। मध्य में वेदी बनाकर शिवलिंग की स्थापना की जाती थी। मन्दिर में एक प्रधान द्वार रहता होगा। अन्य कई द्वार भी रहते होंगे। मन्दिर को मजबूत, सुन्दर और स्वच्छ बनाने के लिये अवश्य ही ईंट, सीमेन्ट जैसे पदार्थों का उपयोग होता होगा, पर शिवपुराण में इसका कोई संकेत नहीं मिलता है। हां, स्फटिक (संगमरमर पत्थर)

---

[1] रु0 सं0, 18/7
[2] को0 रु0 सं0, 17/32–35
[3] वि0 सं0, 11/10–12

का उपयोग अवश्य होता था।[1] मन्दिरों के इन विवरणों से ज्ञात होता है कि मन्दिर आज के शैव मन्दिर के समान ही रहे होंगे।

गुहा– शिवपुराण में गुफाओं का बहुत ही संक्षिप्त विवरण प्राप्त होता है। उस समय हिमालय पर्वत में अनेक गुफायें थीं। समीप ही गंगा बहती थीं और तप करने के लिये दिव्य आश्रम बने हुए थे। ऐसे ही आश्रम में नारद तप करने जाते हैं।[2] गुफाओं के प्रवेश–द्वार संकुचित होते थे तभी वीरभद्र जब घायल होकर गिरते हैं, तो गुफा का द्वार उनके विशाल शरीर से बन्द हो जाता है और राक्षस अंधक अन्दर नहीं जा पाता है। अन्दर की ओर ये गुफायें विस्तृत और प्रकाशमान होती थीं तथा भवन के समान ही सुविधापूर्ण बनी होती थी। बीरभद्र के घायल होने पर पार्वती अन्दर से अपने अनेक सखियों के साथ पहुंचती हैं।[3] ऐसा तभी हो सकता है जब गुफा अन्दर से बड़ी हो और उसमें बहुत से व्यक्तियों के रहने के लिये पर्याप्त स्थान हो। ये गुफायें ऋषि–मुनियों की तपस्या–स्थली थीं। वे यहीं रहकर ध्यान और तप किया करते थे।[4] इस प्रकार शिवपुराण में गुफा, गुहा आदि शब्द तो अनेक बार आये हैं पर उससे गुफा के विषय में कोई विशेष जानकारी नहीं मिलती हैं, केवल संकेत मात्र मिलता है कि पहाड़ों में अनेक गुफायें थीं जिसमें योगी, मुनि, सिद्ध आदि रहकर तपस्या किया करते थे।

कुटी– यहां कुटी से अभिप्राय वानप्रस्थियों के वन में रहने वाले आवास से है। इसके लि आश्रम शब्द का प्रयोग शिवपुराण में किया गया है, जब कि ये कुटी थीं आश्रम बहुअर्थी शब्द है, अतः इसके लिये हम कुटी शब्द का ही

---

[1] को0 रु0 सं0, 17/32–35
[2] रु0 सं0, 2/1–2
[3] रु0 सं0, यु0 खं0, 45/23
[4] वही, 44/37

प्रयोग करेंगे। आश्रम शब्द से बस यहीं संकेत मिलता है कि ऋषि–मुनि तप करने के लिये एक छोटा–सा आवास बनाकर रहते थे। उसके बनाने का ढंग, उपयोगिता आदि पर प्रकाश विशेष नहीं पड़ता है। गौतम मुनि को जब ऋषियों ने गो हत्या के अपराध में ब्रह्मगिरि पर्वत से निकाल दिया तो उन्होंने वहां से एक कोस की दूरी पर अपना आराम बनाया।[1] इसी प्रकार चन्द्रभागा नदी के किनारे तपस्वियों के आश्रम में मेघातिथि ऋषि को यज्ञ करते वर्णित किया गया है।[2] तपसारण्य नामक आश्रम में मुनियों ने अरुन्धती को पाल–पोष कर बड़ा किया।[3] उपरोक्त तथ्यों से बस इतना ही ज्ञात होता है कि तपस्वी लोग किसी सुरम्य स्थल में नदी के किनारे अपना आश्रम बना तपस्या करते थें। यदा–कदा इन आश्रमों में शिशुओं का लालन–पालन करने एवं शिक्षा–दीक्षा देने का भी प्रसंग मिलता है।

यज्ञ, विवाह आदि शुभ अवसरों पर साज–सज्जा– विवाह एवं यज्ञ के लिये लम्बा–चौड़ा मंडप एवं यज्ञ वेदी वास्तुकला और शिल्पकला के सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पर्वतराज हिमालय की पुत्री के विवाह के अवसर पर नगर को विचित्र ढंग से सजाया गया था। ध्वजा एवं तोरणों से वह पुरी दमक उठी थी, चंदीवो के कारण वहां सूर्य की किरणों का आना निषेध हो गया था।[4] नगर की साज–सज्जा ऐसी थी कि लोगों को भान नहीं होता था कि यहां जल है अथवा स्थल।[5] महाभारत में भी एक ऐसा ही उदाहरण मिलता है। इन्द्रप्रस्थ में नवनिर्मित पांडवों के राजभवन में दुर्योधन को जल एवं स्थल का अन्तर ज्ञात

---

[1] को0 रु0 सं0, 25/43
[2] रु0 सं0, स0 खं0, 6/51
[3] रु0 सं0, पा0 खं0, 7/17
[4] वही, 37/48
[5] वही, 38/5–13

नहीं होता है। हिमपुरी में कहीं कृत्रिम सिंह, सारस, नीलकंड आदि की पंक्ति बने हुये थे, कहीं कृत्रिम स्त्री–पुरुष नृत्य कर रहे थे, कुछ कृत्रिम स्त्रियां इसे देख भी रही थीं। कृत्रिम द्वारपाल धनुष खींचते हुये सत्यता का भान कर रहे थे। विश्वकर्मा ने सभी देवताओं की ऐसी आश्चर्यजनक प्रतिमा बनायी थी कि क्षण भर के लिये लोग विभ्रम हो ये कि कौन वास्तविक ब्रह्माविष्णु है।[1] नारद तो उन कृत्रिम देवताओं को देख विस्मय में पड़ जाते हैं और हिमवान से पूछ ही बैठते है – क्या शंभु सभी देवताओं एवं गणों के साथ विवाह करने आ गये हैं? हिमवान उनकी शंका का समाधान करते हुये कहते हैं– शंभु अभी बारातियों के साथ नहीं आये हैं, यह तो विश्वकर्मा के सद्बुद्धि कर रचना है। अतः हे देवर्षि, आप विस्मय को त्याग दें।[2] भवनों के द्वारों पर केले आदि मांगलिक द्रव्यों को लगवाया गया था। आंगन में केले के खम्भे लगाये गये थे। उन पर आम के पत्ते एवं मालती की माला बांध कर सुन्दर तोरण बनाया गया था।[3] विवाह के बाद 'वास' नामक जिस घर में शिव को ले जाया जाता है वह भवन श्वेत चामरों से मंडित था। वहां रत्न–जटित दर्पणों की शोभा फैल रही थी। उस विचित्र मनोहर एवं महादिव्य भवन को उपमा मिलनी कठिन है।[4] जिस पलंग पर भगवान् शंकर शयन करने जाते हैं, वह पलंग रत्न–जटित थी।[5] इन तथ्यों से ज्ञात होता है कि तत्कालीन वास्तु एवं शिल्पकला अपने परमोन्नति पर थी।

मूर्तिकला– शिवलिंग सेना, चांदी, मुक्ता, मणि, पीतल, ताम्बा, स्फटिक, चन्दन मिट्टी अदि का बनता था। विश्वकर्मा को प्रामि लिंग निर्माणकर्ता

---

[1] वही, 38/5–13
[2] रु0 सं0, पा0 खं0, 4/8–12
[3] वही, 38/2–4
[4] वही, 52/17–18
[5] वही, 52/25

कहा गया है, जिसे बनाकर उन्होंने देवताओं को दिया। इससे ज्ञात होता है कि मूर्ति–निर्माण में सोना–चाँदी, ताम्बा, लोहा आदि का प्रयोग पर्याप्त मात्रा में होता था। स्थान–स्थान पर इससे निर्मित अन्य वस्तुओं का उल्लेख भी है। हाथी दांत के विभिन्न प्रकार की कलात्मक वस्तुएं तैयार की जाती थी।[1] एक ऐसे कलात्मक पहाड़ी खिलौना – शालभंजिका का उल्लेख आया है जिसके हथेली पर दीपक रखने पर वह हिलती थी।[2] लकड़ी से भी विभिन्न प्रकार की सामग्री तैयार की जाती थी। शिव–पूजा के सन्दर्भ में ब्रह्मा ऋषियों से कहते हैं कि आसन शुद्ध काठ का बना होना चाहिए।[3] मिट्टी से भी पात्र तैयार किये जाते थे। भगवान् शंकर एक स्थल पर कहते हैं कि एक ही मिट्टी पात्रों के भेद से कई प्रकार की दिखती है। पर मिट्टी में किसी प्रकार का भेद नहीं होता।[4] मिट्टी के बर्तन संभवतः कुम्हार चाक द्वारा तैयार करते थे। इसका स्पष्ट उल्लेख तो नहीं प्राप्त होता है परन्तु उपमा के रूप में कहा गया है कि शिव, विष्णु आदि सभी देवताओं को कुम्हार के चाक के समान नचाते हैं।[5] संगमरमर की प्रतिमायें इतनी सुन्दर बनती थीं कि सजीवता का सहज ही आभास होने लगता था। हिमालय के यहां महाद्वार पर नन्दीश्वर की स्फटिक मूर्ति ऐसी ही बनी हुई थी।[6] मूर्तिकला का विकास तो चरमोत्कर्ष पर था। पार्वती के विवाह के अवसर पर स्वयं क्षीर सागर से आ गयी हों, बनावटी हाथी सत्य प्रतीत होते थे।[7]

---

[1] रु0 सं0, 17/56
[2] वही, 43/12
[3] रु0 सं0, 17/13
[4] वही, 7/36
[5] श0 रु0 सं0, 11/48
[6] रु0 सं0, पा0 खं0, 38/18
[7] वही, 38/14, 15

चूंकि यहाँ शिवपुराण का उल्लेख हो रहा है, अतः शिवलिंग का वर्णन करना आवश्यक है। शिवलिंग बनाने के पहले लिंगपीठ बनाने का आदेश दिया गया है। यह चतुष्कोण, त्रिकोण अथवा षट्वांग होना चाहिये। पहले मिट्टी, पत्थर अथवा लोहे से लिंग का निर्माण करें, फिर शिवलिंग की प्रतिष्ठा करने से पहले शिल्पशास्त्र के अनुसार देवताओं से भरा मन्दिर बनवाएं। यह दर्पण के समान स्वच्छ, रम्य तथा दृढ़ हो। नौ रत्नों से विभूषित प्रधान दिग्द्वार वाले मध्य गृह में वेदी सहित लिंग स्थान में नौ रत्नों को डाले, फिर उसमें शिव लिंग की स्थापना करें। पीठ सहित लिंग को रखकर वज्रलेप से जोड़े।[1] यहां पर प्रमाणित हो जाता है कि मणि, मुक्ता आदि अनेक प्रकार के रत्नों का ज्ञान था। वज्रलेप सीमेन्ट के समान ही कोई पदार्थ रहा होगा जो भवन आदि के निर्माण में काम आता होगा। शिव–पूजा के सन्दर्भ में ब्रह्मा ने कहा कि अगर घर में मृत्तिका, सुवर्ण, चाँदी, धातु अथवा पारद की मूर्ति हो तो उसकी पूजा करनी चाहिए। यानी पारा के प्रयोग से लोग परिचित थे।[2] देवताओं की प्रतिमा भी बनती होगी, तभी शिव की प्रतिमा बनाकर पूजा करने का उल्लेख आया है।[3] एक प्रसंग में आया है कि शिव के शाप के कारण ही ब्रह्मा की प्रतिमा बनाकर पूजा नहीं की जाती है।[4] यहाँ इन तथ्यों से प्रमाणित होता है कि प्रतिमा विज्ञान भी अपने उत्कर्ष पर था।

संगीत कला– गायन, वादन एवं नृत्य तीनों को मिलाकर संगीत कहा जाता है। वास्तव में ये तीनों कलायें एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, पर सभी

---

[1] वि0 सं0, 11/6
[2] रु0 सं0, 13/34
[3] वि0 सं0, 4/16
[4] वही, 6/10

अपने में एक दूसरे के बिना अपूर्ण है।[1] अतः प्रत्येक एक दूसरे के अधीन है।[2] शिवपुराण में इसी परिभाषा के अनुसार इसके तीनों अंगों का अलग–अलग और साथ–साथ वर्णन मिलता है। शिव–पार्वती के विवाह केसमय बाजे गाजे, गीत गाये गये तथा रमा आदि देव पत्नियों ने नृत्य किया। यही शास्त्रीय अर्थ में संगीत है। शिव–पूजा में नृत्य एवं गीत का व्यवहार होता था। गुणनिधि मन्दिर के जिस द्वार पर खड़ा है, वहाँ शिव–पूजक नृत्य करके तथा गीत गा कर शिव की अराधना कर रहे थे।[3] संगीत जनमानस में इतना घुल–मिल गया था कि प्रायः जीवन के हर छोटे–बड़े आनन्ददायक क्षण में इसका प्रयोग होता था। किसी भी उतसव में नृत्य–गीत का आयोजन आवश्यक था। दक्ष की पत्नी ने जब पुत्री को जन्म दिया तब बहुत बड़े उत्सव का आयोजन वाद्य बजे, नर्तकियों ने नृत्य किया तथा गीत गाये गये। इसी प्रकार शिव के कैलाश पहुंचने पर पुष्पों की वर्षा हुई तथा अप्सराओं ने नृत्य किया।

आधुनिक युग की तरह उस समय भी प्रायः गीत और वाद्य का प्रयोग साथ–साथ होता था। विशिष्ट अवसरों यथा– शिशु जन्म, विवाह, विशिष्ट व्यक्तियों के आगमन, पूजा, यज्ञ आदि पर गीत गाये ही जाते थे, युद्ध के अवसर पर भी गीत–वाद्य का प्रयोग होता था। स्कन्द कुमार जब अपने माता–पिता से मिलने कैलाश पहुंचते हैं तो उनका स्वागत गन्धर्वों एवं गायकों ने गीत–वाद्यों से किया।[4] इसी प्रकार जब कुमार तारकासुर को मारकर लौटते हैं तो उनके स्वागत में गन्धर्वपति गाने लगे तथा अप्सरायें नृत्य करने लगी।[5] गणपति गणेश

---

[1] संगीत विशारद, पृ0 38
[2] वही
[3] रु0 सं0, 18/15
[4] रु0 सं0, कु0 खं0, 5/31
[5] वही, 10/43

को भगवान् शंकर जब–जब पुत्र के रूप में स्वीकार कर लेते तथा उनको प्रधान गणपति घोषित करते हैं, उस समय हर्ष विह्वल हो, देवता दुंदुभी बजाने लगते हैं, अप्सरायें नाचने लगती हैं तथा गन्धर्व गाने लगते हैं।[1] संगीत इतने मोहक और चित्त को लुभाने वाले होते थे कि योगी, तपी भी इससे मोहित हो जाते थे। जलन्धर ने रुद्र को मोहित करने के लिए माया से गन्धर्वों एवं अप्सराओं के समूह प्रकट किये। तदनन्तर गन्धर्व एवं अप्सरा नाचने–गाने लगे, कुछ वीणा एवं मृदंग आदि बजाने लगे। रुद्र और उनके गण उसी में लीन हो गये।[2] राज्याभिषेक के अवसर पर भी नृत्य–गीत समारोह का आयोजन होता था।

आखेट के आरम्भ, मध्य तथा अन्त में विजयोल्लास के समय भी संगीत का प्रयोग किया जाता था। युद्ध के अवसर पर आरम्भ में तथा मध्य में एक विशेष प्रकार के वाद्य यन्त्र बजाये जाते थे, यथा– नगाड़ा, मृदंग, आनक, पट्ट एवं गोमुख आदि।[3] मारू एक विशेष प्रकार का वाद्य यन्त्र था जो केवल युद्ध के अवसर पर ही बजाया जाता था।[4] देवताओं एवं दैत्यों के मध्य जब युद्ध शुरु हुआ तो मारू बजने लगे।

शंख, नगाड़े–भेरी तथा गोमुख आदि वाद्य यन्त्र शुभ अवसरों पर बजाये जाते थे। दुन्दभि, नगाड़ा, तुरहि, बीन, बांसुरी, मृदंग आदि वाद्य यन्त्र उस समय व्यवहार में लाये जाते थे। वीणा, सारंगी, मत और गोर आदि का भी प्रयोग होता था। वीणा को विपंची तथा सारंगी को तंत्रिका कहा जाता था।

शिव मृदंग के स्थान पर डमरू का व्यवहार करते थे। वह प्रकट करता है कि वाद्य यन्त्र के रूप में डमरू का प्रचलन सभ्य समाज में नहीं था।

---

[1] वही, 18/65
[2] वही, 22/33/36
[3] वही, 8/17
[4] वही, 14/19

इसे जंगली तथा असभ्य जातियां ही व्यवहार में लाती थीं। नारद[1] एवं तुम्बरु उस समय के श्रेष्ठ गायक थे।[2] संगीतज्ञों के अनेक वर्गों का उल्लेख यहां प्राप्त होता है – नट, नर्तक, गायक, अप्सरा, गन्धर्व आदि। संगीत को इस समय एक विद्या के रूप में स्वीकार कर लिया गया था। इसे गन्धर्व विद्या कहते थे क्योंकि तुम्बक जो श्रेष्ठ गायक था, गन्धर्व ही थे।

प्रत्येक छोटे–छोटे अवसरों पर संगीत का प्रयोग सिद्ध करता है कि संगीत जनमानस में छा गया था। पार्वती एवं सती के विवाह पर पुरवासिनी स्त्रियां गीत गाती हैं, यह अवश्य ही लोक संगीत रहा होगा।[3] यह गन्धर्वों तथा गायकों द्वारा गाये गये गीतों से कुछ भिन्न होगा। शिवमहापुराण से गीत के अंगों आदि पर प्रकाश नहीं पड़ता है, परन्तु वीणा बजाकर नारद[4] को गाते हुए तथा वीणा ही बजाकर तुम्बरु को शिवपुराण में गाते हुए चित्रित किया गया है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि स्वर, राम, ताल आदि का प्रयोग अवश्य होता होगा। पर स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख शिवपुराण में नहीं मिलता है। एक प्रसंग में आया है कि गायक मांगलिक गीतों को ताल के साथ गाने लगे।[5]

इस समय तक संगीत के कुछ आचार्य निर्धारित हो चुके थे। नारद और तुम्बरु को गन्धर्वराज कहा जाता था। हरिषेण का प्रयाग प्रशस्ति में इन्हीं को संगीतज्ञों का गुरु कहा गया है।[6]

सामान्य स्त्रियों तथा पुरुषों को भी संगीत में रुचि थी और वे इनमें दक्ष थे। शिव का पूजन लोग संगीत नृत्य द्वारा करते थे, यह इसका प्रमाण है।

---

[1] रु0 सं0, पा0 खं0, 48/10
[2] शिव पु0 मा0, 5/26
[3] वही, 52/36
[4] वही, 47/10
[5] वही, 47/34
[6] गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ0 42

वाणासुर के नृत्य गीत से भगवान् शंकर प्रसन्न हो जाते हैं।[1] इसी प्रकार गुणनिधि जस मन्दिर के द्वार पर खड़ा है, वहां शिवपूजक नृत्य एवं गीत गा कर शिव की पूजा कर रहे थे। पार्वती के विवाह के अवसर पर पुरवासिनियों ने गीत गाये।

नृत्य कला– नृत्य संगीत का ही एक अंग है। उत्सवों के समय नृत्य किया जाता था। शिव–सती के विवाह के अवसर पर अप्सराओं ने नृत्य किया। शिव जब कैलाश को अपनी पुरी बना लेते हैं तो वहां पहुँचने पर उनपर पुष्पों की वर्षा हुई तथा अप्सराओं ने नृत्य करके उनका स्वागत किया। कभी–कभी देव पूजन के समय नृत्य किया जाता था। बाणासुर ने शिव को प्रसन्न करने के लिये अपूर्व नृत्य किया। सामान्य लोग भी पूजा के अवसर पर नृत्य किया करते थे।

नृत्य के साथ–साथ वाद्य यन्त्र भी बजते थे तथा गीत गाये जाते थे। दक्ष के यहां पुत्री जन्मोत्सव मनाया जा रहा था, उस अवसर पर नर्तकियाँ नाच रही थीं एवं वाद्य यन्त्र बज रहे थे।[2] नृत्य साधारणतया गायक तथा वादन के साथ ही हुआ करता था जो आज भी प्रचलित है।

नृत्य के विभिन्न प्रकारों से लोग परिचित थे। नृत्यकला ने जन्मदाता भगवान् शंकर माने जाते हैं जिन्होंने प्रजननकारी – 'लास' तथा विनाशकारी 'ताण्डव'[3] इ नृत्य को जन्म दिया था। यहां ताण्डव नृत्य का विवरण मिलता है जिससे स्पष्ट है कि इन दोनों प्रकार के नृत्यों का लोगों को ज्ञान था। ताण्डव में विभिन्न प्रकार के हाथ नचाने, ठुमकी लगाने, अनेक प्रकार के

---

[1] रु0 सं0, यु0 खं0, 57/14, 15
[2] रु0 सं0, स0 खं0, 45/14
[3] रु0 सं0, यु0 खं0, 56/10–12

आकार वाले आलीढ़ आदि मुख्य–मुख्य स्थानकों एवं प्रत्यालीढ़ आदि का विवरण यह प्रमाणित करता है कि नृत्यकला पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी।

विशेष अवसर पर नर्तकियां तो नाचती ही थीं, हिजड़े भी नाचते थे। जब कुमार शंकर से मिलने आते हैं तो उत्सव का आयोजन किया जाता है, अप्सरायें नाचती हैं, साथ–साथ हिजड़े भी मुस्कराने, नाचने एवं गाने लगते हैं।[1] आज भी हमारे समाज में पुत्रजन्म अथवा विवाह के अवसर पर हिजड़े नाचते हैं।

नट जाति का उल्लेख यहां मिलता है जिसके जीविकोपार्जन का साधन ही नृत्य था। भगवान् शंकर नट का वेष धारण कर हिमवान के यहां पहुँचते हैं। वे वहाँ अद्‌भुत नृत्य करते हैं जिसे देख सभी पुरवासी मुग्ध हो जाते हैं।[2] नट गाते, बजाते एवं नाचते थे। इनका वाद्ययन्त्र डमरू और सिंग होता था। आधुनिक युग में जब नृत्यकला अपने चरमोत्कर्ष पर है, भारत में नट अपने पौराणिक परिवेश में ही मिलते हैं। पर तत्कालीन समाज में इन नटों एवं भाड़ों को हेय दृष्टि से देखा जाता था।[3]

ब्रह्म पुराण[4] से भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि स्त्री–पुरुष दोनों संगीत–नृत्य में रुचि लेते थे। समाज में नर्तकियां थीं जिनके जीविकोपार्जन का साधन ही नृत्य–संगीत होता था। महानन्दा को संगीत केसभी अंगों में प्रवीण कहा गया है।[5] संगीत का अर्थ गायन, वादन तथा नृत्य होता है, अतः यह नृत्य में भी निपुण होगी। वार–वनिताओं के यहां नृत्य करने के लिये नृत्य मंडप बने होते थे।[6] ये राजाओं के यहां जाकर नृत्य करती थीं, राजा भी

---

[1] रु0 सं0, कु0 खं0, 5/20
[2] रु0 सं0, पा0 खं0, 30/26–31
[3] रु0 सं0, 17/11
[4] ब्र0 पु0, 41/33, 65, 66
[5] श0 रु0 सं0, 26/4
[6] वही, 26/21

स्वयं इनके यहां आकर नृत्य का आनन्द लेते थे।[1] सामान्य जन भी इनके यहां पधारते थे।[2]

चित्रकला– शिवमहापुराण में अनेक स्थलों पर चित्रकला का वर्णन प्राप्त होता है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के चित्रासूल में कहा गया है कि समस्त कलाओं में चित्रकला श्रेष्ठ है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पदार्थों को देने वाली है।[3] तत्कालीन समाज में चित्र केवल तूलिका और रंगों के योग से ही न बनकर धातुओं एवं रत्नों के भी बनाये जाते थे।[4] इसका उद्देश्य सौन्दर्य–वृद्धि था। तत्कालीन चित्रकला का ज्ञान हमें उस समय के वाहन, वस्त्र, आवास, मन्दिर आदि पर अंकित चित्रों से होता है। आर्यों एवं राक्षसों दोनों समाज में चित्रकला का समान रूप से प्रचलन था। राक्षस कुष्माण्ड की पुत्री चित्रलेखा वस्त्र के पर्दे पर अनेक देवताओं, राक्षसों और गन्धर्वों का चित्र बना ऊषा के सामने प्रस्तुत करती है।[5]

महलों के निर्माण में चित्रकला का प्रयोग किया जाता था। भगवान् शंकर का सभा मंडप श्रेष्ठ मणियों में हार और विभिन्न प्रकार के हीरों से सुशोभित था। उसमें मणियों के मालाकार झरोखे बने रहे थे तथा अनेक प्रकार की विचित्र चित्रकारी हो रही थी।[6] राक्षस–राज शंखचूड़ का महल भी विशाल था। मणि–मणिकाओं, हीरों, पन्नों आदि बहुमूल्य रत्नों से उसकी दीवारें एवं खम्भे चित्रित थे। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है कि हिमवान की नगरी विश्वकर्मा द्वारा ऐसे ही सजायी गयी थी। देवताओं की ऐसी प्रतिमायें

---

[1] वही, 56/4
[2] वही, 26/13
[3] वि0 ध0 पु0, 3–45–38
[4] रु0 सं0, पा0 खं0, 52/21–23
[5] रु0 सं0, यु0 खं0, 52/40–45
[6] वही, 30/15–19

बनायी गयी थीं कि देवता स्वयं उसे देखकर चित्रलिखित हो गये।[1] राजभवनों के कलात्मक एवं चित्रात्मक सजावट का उदाहरण रामायण में भी मिलता है।[2] रथ, विमान आदि वाहन भी सोने–चांदी के नक्काशी से इस प्रकार अलंकृत रहते थे कि उनकी शोभा अवर्णनीय होती थी। स्कन्द कुमार को लेने के लिए पार्वती ने ऐसा ही उत्तम रथ भेजा था, उस रथ की शोभा अद्‌भुत थी। उसको विश्वकर्मा ने बनाया था और बड़ा ही विस्तृत और मन के अनुसार चलने वाला था।[3] इसी प्रकार कुबेर एवं स्कन्द कुमार के भी चित्रों से शिव का वास (सुहाग कक्ष) सजाया था। उसमें कहीं मनोहर बैकुण्ठ बना हुआ था तो कहीं ब्रह्मलोक, कहीं रमणीय कैलाश बना था तो कहीं पर इन्द्र मन्दिर।[4] इन चित्रों में रंगों के स्थानों पर विभिन्न रंग की मणियों, स्वर्ण एवं रजत का प्रयोग किया गया था।

चित्रकला का विकास इतना अधिक हो चुका था कि दैनिक उपयोग में आने वाले वस्तुओं पर भी चित्र बने होते थे। एक सन्दर्भ में ब्रह्मा ने विष्णु से कहा कि शिव–पूजन के समय सब मनोरमों को पूर्ण करने वाले चित्रासन को बिछावें।[5] कुमारियां भी चित्रकला में निपुण होती थी। वाण पुत्री ऊषा की सखी चित्रलेखा वस्त्र के पर्दे पर अनेक देवता, राक्षस, गन्धर्व आदि का चित्र बनाती है। बाद में कृष्ण, प्रदयुम्न एवं अनिरुद्ध आदि का चित्र बनाकर पूछती है कि पहचानों इन पुरुषों में से किसने तुम्हारे चित को चुराया है। उषा चित्रलिखित अनिरुद्ध को देख लज्जा से मुख नीचा कर लेती है।[6] इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वस्त्र पर भी चित्र बनाये जाते थे। डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी

---

[1] रु0 सं0, पा0 खं0, 37/48
[2] बा0 रा0, 6/11/14
[3] रु0 सं0, कु0 खं0, 5/1–2
[4] रु0 सं0, पा0 खं0, 52/21–23
[5] रु0 सं0, 19/13
[6] रु0 सं0, यु0 खं0, 52/40–42

के अनुसार – अन्तःपुरिकायें अवसर मिलने पर इस विद्या के द्वारा मनोविनोद करती थीं। चित्र नाना आधारों पर बनाये जाते थे। काठ या हाथी दांत के चित्र फलक पर चिकनी शिला पट्ट पर कपड़े और भीत पर।[1] संस्कृत नाटकों में शायद ही ऐसा कोई हो जिसमें प्रेमी या प्रेमिका ने अपने विरह–वेदन को प्रिय का चित्र बनाकर न हलका किया हो। शिवपुराण में भी ऐसा ही एक प्रसंग मिलता है। सती शंकर के वियोग में मग्न हैं। सखियों के बीच बैठी सती अपने भाव में मग्न हो बार–बार शंकर को प्रतिमा चित्रित करने लगती हैं। संभवतः ऐसा वे आत्म तुष्टि के लिये ही करती है।[2]

डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार– विष्णु धर्मोत्तर पुराण उस उस्ताद को ही चित्र–विद् कहने को राजी है जो सोये आदमी में चेतना दिखा सके। निम्नोन्नत विभाग ठीक–ठीक अंकित कर सके। तरंग की चंचलता, अग्नि शिखा की कम्पगति, धूम का तरंगित होना और पताका का लहराना दिखा सके।[3] वस्तुतः इन दिनों चित्र–विद्या अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुकी थी।

---

[1] प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ0 65
[2] रु0 सं0, स0 खं0, 14/56
[3] प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद, पृ0 66